

मैंने बुआको खूब सपूत सुस्त कहा । सुनती रहीं, सुनती रहीं;  
फिर वह बोलीं—तू भी मुझे ही कहेगा, प्रमोद ?

“और नहीं तो किसे कहूँगा ?”

“अच्छा । तू भी कह ले ।”

बुआने कुछ ऐसे भावसे यह बात कही कि मेरा काठिन्य  
अपनेमें ही कुंठित हो रहा । मैं कातर हो आया । कहा—फिर  
यह तुमने क्या किया बुआ ?

“क्या किया ?”

“मैं जानता हूँ, जो हुआ है तुमने ही किया है ।”

इसपर कुछ देर बँधी निगाहसे मेरी ओर देखते रहकर  
बोलीं—सच जान, प्रमोद, मैंने कुछ नहीं किया । मेरी मति  
अष्ट हो गई है । मुझे कुछ ठीक सूझता नहीं है । मैं जो करती  
हूँ क्या जानती हूँ ? यहाँ मुझे कोई भी तो बतानेवाला नहीं  
है । अपने मनकी मैं किससे कहूँ ? प्रमोद, मेरी कुछ समझमें  
नहीं आता है । ऐसेमें तू भी मुझे दोष देगा तो मैं क्या करूँगी ?

उनकी बातका मर्म मेरी कुछ समझमें न आया । पर मेरा  
मन विथासे घिर गया । मैंने कहा—तुम क्या चाहती हो ?

“क्या चाहूँ ?”

“अपने तनको क्यों खोती हो ?”

“तनको खोती हूँ ?—मैं नहीं जानती । अच्छा बताओ,  
तनका क्या करूँ ?”

मुझे बड़ा कष्ट हो रहा था । कष्ट कुछ ऐसा था कि केन्द्र-  
हीन, अहेतुक । मैंने कहा—देखो, बुआ । तुम बाबूजीसे

मजबूतीके साथ क्यों नहीं कह देती हो ? दबना किसका ? फिर मैं देख लूँगा कौन जबरदस्ती करता है ।

बुआ विचित्र भावसे मुझे देखने लगीं । फिर बोलीं—क्या कह दूँ ? कैसी जबरदस्ती ! यह तू सब कह क्या रहा है ?—प्रमोद, तू अभी कुछ नहीं जानता, तू बच्चा है ।

अपनेको बच्चा सुनकर मुझे जोश आ गया । मैंने कहा—हाँ, बच्चा हूँ और मैं कुछ नहीं जानता । लेकिन एक बार तुम खुलकर कह दो कि तू नहीं जाना चाहती हो तो मैं देख लूँगा कौन फूफा हैं जो ले जाते हैं । तुम क्या समझती हो कि मैं कुछ नहीं हूँ ?

बुआ जाने क्यों उस समय भयसे भर गई । बोलीं—छिः भैया, ऐसी बात कहते हैं । कन्या जाति क्या अपने पिताके घरकी होती है ? मैं कोई निराली जनमी हूँ ? तिसपर भाई, तू ही बता मेरे पिता कहाँ हैं ? वह होते—

मैंने अवश भावसे मानों चिल्लाकर कहा—कौन पिता ! कैसे पिता ! कैसी बात करती हो, बुआ ? बाबूजी तुम्हारे नहीं हैं ? अम्मा नहीं हैं ? मैं नहीं हूँ ?

बुआने धीरेसे कहा—कोई नहीं है ।

मैंने उस समय उनके कंठसे लगकर कहा—मैं नहीं हूँ ? मैं नहीं हूँ ?

उन्होंने मुझे आलिंगनमें बाँध लिया । कहा—तू है भैया, तू है । तू ही तो है । नहीं तो मैं यह पेटका कुकर्म लिये यहाँ क्यों जी रही हूँ ?

इतवारको फूफा आगये । उन्हें बुआकी हालत देखकर बड़ा विस्मय हुआ । उन्होंने कहा कि इस जगहका पानी उन्हें माफिक आया नहीं मालूम होता । देखिए न, क्या हालत हो गई है ! क्या हो गया था—दस्त ? तीन रोज तक दस्त और कै ! उफ ! डाक्टर कौन था ? यह जगह क्या है कि डाक्टर भी सलीकेके नहीं मिल सकते—जिलेके सिविल सर्जन—

फूफा परेशानीमें अवीर थे । बुआकी अवस्थापर उनकी आलोचना उनके मनकी व्यग्रता और चिंता प्रकट करती थी । मेरे सामने उन्होंने बाबूजीको कहा कि ऐसी हालतमें मुझे तार क्यों नहीं कर दिया गया, मैं सब बंदोबस्त कर देता । हमारे यहाँका पानी और घी-दूध कैसा है, आप जानते ही हैं । मसल है, घी और मरद पछाँहका । कैसी ही गिरी तबीयत हो वहाँ देखते-देखते सँभल जाती है ।—

पिताजीसे कुछ विशेष उत्तर नहीं बन पड़ा । ऐसा मालूम होता था कि उन्हें स्वीकार है कि बेशक उन्हींका अपराध है । पिताजीने दो-एक बार कहा कि खैर, हालत कमजोर है, कुछ दिन ठहरकर ले जायँ तो क्या बेहतर न होगा ?

पर हालत कमजोर है तब तो फूफाका कर्तव्य और भी स्पष्ट हो जाता है । आप ही सोचिए, ऐसी हालतमें उन्हें छोड़ जाना कहाँतक मुनासिब है । पर आप देखिएगा कि वहाँ पहुँचकर थोड़े दिनोंमें ही तबीयत हरी हो आती है । और सब पूछिए तो छोटे-मोटे रोगोंकी परवाह करना उनकी परवरिश करना है । सौ दवाओंकी एक दवा है बेफिकरी ।

फूफाने फिर कहा—आपने उन्हें समझा तो दिया ही होगा। ज़रा सेहतका ख्याल रक्खा करें। और दुनियाका भी ज़रा लेहाज़ रखना चाहिए। आप जानिए, बहू-बेटियोंकी चलनकी रीति-नीति हुआ करती है। अपने तो वही पुराने अक़ीदे हैं। अपना कुल-शील चला आता है, वह न निभा तो फिर क्या रह गया। ज़रा ये बातें समझा देनी चाहिए। मैं तो अपनी तरफसे थोड़ा बहुत कहता ही हूँ, लेकिन आप जानिए, आपकी बातका मुझसे कहीं अधिक असर होगा।

मैं आठवीं क्लासमें पढ़ता था। तब मैं क्या समझता हूँगा, क्या नहीं समझता हूँगा। फिर भी वह बातें मुझे बिल्कुल अच्छी नहीं मालूम हो रहीं थीं। जीमें कुछ बेमतलब गुस्सा चढ़ता आता था। जी होता था कि वहीके वही कोई दुस्सह अविनय कर डालें। ऐसे भावकी कोई वजह न थी, पर बाबूजीकी कुछ दबी हुई स्थितिकी झलक उनके चेहरेपर देखकर बड़ी खीझ मालूम हो रही थी। पर जाने मुझे क्या चीज रोक रही थी कि मैं फट नहीं पड़ा।

बाबूजीने फूफाके जवाबमें कहा—जी हॉ, जी हॉ।

सहसा फूफा मेरी ओर मुखातिब हुए। कहा—कहिए जनाब, आपका इस्म शरीफ़ ? ओः याद आया, प्रमोद !

प्रमोद मेरा नाम है तो है। इससे किसीका क्या कुछ मतलब है ? और मैं कुछ नहीं बोला।

“ किस दर्जेमें पढ़ते है ? ”

“ इस छःमाही इम्तहानमें फेल हो गया हूँ । ”

“फेल हो गये हो। यह खबर तो बुरी है। किस जमातमें?”

मैं चुप रहा। क्यों बोलूँ, नहीं बोलता।

“घबराओ नहीं, किस जमातमें पढ़ते हो?”

“मैं फेल होनेसे नहीं डरता—”

उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—

“फेल होनेसे डरना चाहिए भाई। जो मन लगाकर शुरूमें पढ़ते हैं वे ही आगे जाकर जिदगीमें कुछ करते हैं। समझे? अच्छा, यहाँ आओ। आओ, हमारे पास आओ।”

मैं अपनी जगह ही रहा, टला नहीं।

पिताजीने कहा—जाओ बेटा, जाओ, जवाब दो।

तब मैं छाती निकालकर चलता हुआ फफाके सामने खड़ा हो गया। उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे मेरे दोनों कंधोंको पकड़कर हिलाते हुए कहा—

“दर्जा सातमें पढ़ते हो या आठमें?”

“आठमें।”

“देखो, क्लासमें फेल नहीं होना चाहिए। अच्छा बतलाओ, इकत्ती लोगे कि दुअत्ती?” कहकर उन्होंने अपनी जेबमें हाथ डाला।

मैं अपने मनका पाप कह दूँ। उस समय मेरे मनमें हुआ था कि उल्टे ये ही मुझसे इकत्ती लें, चाहें तो दुअत्ती ले लें, पर इन बड़ी-बड़ी नोकीली मूँझोंको खींचना कैसा मालूम होगा, यह जानना चाहता हूँ। हो तो चलो, इस बातकी श्रुती ही दे दूँगा।

दो बंद मुठियाँ सामने कर फफाने कहा—बोलो, कौन-सी लोगे ?

मैं देखता रह गया, कुछ नहीं बोला ।

“ जल्दी बतलाओ, नहीं तो दोनोंका माल उड़ जायगा और फिर ताकते रह जाओगे । ”

मुझको बहुत बुरा मालूम हो रहा था । मैंने कहा—

“ आपको चाहिए, तो दुआनी मैं आपको दे सकता हूँ । ”

सुनकर मेपके साथ वह ‘ हो-हो-हो-हो ’ करके हँस पड़े । उनकी हँसीकी कृत्रिमता और मेप देख मुझे गर्व हुआ । मैंने कहा—

“ मैं आठवें दर्जेमें पढ़ता हूँ और इस इम्तहानमें अव्वल आया हूँ । ”

फफा इसपर फिर हँसे—हो-हो-हो-हो !

मुझे ऐसा मालूम हुआ कि वह मुझसे असंतुष्ट हुए और उनके असंतोषमें जाने क्यों मुझे प्रसन्नता हुई । ऐसा मालूम हुआ जैसे पिताजीका मैं बदला ले सका हूँ ।

अगले दिन जानेकी तय्यारियाँ होने लगीं । मुझसे बुआने कहा—प्रमोद, मेरा कहा-सुना सब माफ़ करना । जाने तुम लोगोंके अब कब दर्शन हों ।

मैंने तय किया था कि बुआके लिए मुझे मजबूत बनना होगा, पर बुआके सामने मेरी मजबूती सब टूट जाती थी । बुआकी यह बात सुनकर मेरा चित्त बिह्वल हो आया । कुछ कहनेके लिए कहा—बुआ, खत लिखती रहोगी ?

बुआने कहा—खत ? देखो—

मैंने कहा—ज़रूर-ज़रूर लिखना, बुआ । बुलाओगी तब मैं फौरन आ जाऊँगा । मैं रेलमें अकेला सफ़र कर लेता हूँ ।

“तुम्हें नहीं बुलाऊँगी तो और किसको बुलाऊँगी । पर क्यों रे, अकेला सफ़र करके तू मुक्तक आयगा ?”

“मैं आऊँगा, बुआ, मैं आऊँगा । बुलाओगी, तभी सब काम छोड़ आऊँगा ।”

बुआने हल्केसे मेरे गालपर चपत मारकर कहा—पगला ।

उस वार जाते समय बुआ मँके पैर छूकर रोती हुई सामने खड़ी हो गई, बोली कुछ भी नहीं । मँने द्रवित भावसे उन्हें अपने कंठसे लगाकर कहा—मिनी, मैं तुम्हें जल्दी बुलाऊँगी । वहाँ अपनी गिरिस्ती अच्छी तरह सँभालना और पतिको सुखी करना, मिनी !

मँने गद्गद कंठसे माँति-माँतिके आशीर्वचन कहे । बुआ मस्तक झुकाकर मानों सब मेलती रहीं । पतिव्रता रहने, पूतों फलने, बड़भागिन होने आदिके आशीर्वाद उन्होंने ऐसे प्रणत भावसे लिये कि मानों उनके नीचे वह गड़कर मर भी जायँ तो धन्य हो जायँ । नहीं तो—नहीं तो—

पिताजीके सामने बुआ फट-फूटकर रोने लगीं । पिताजीने झट रुमाल निकालकर चेहरेको बार-बार पोंछा, निरर्थक भावसे जल्दी-जल्दी कहा—‘क्या है ? क्या है ?’ ‘कुछ नहीं, कुछ नहीं,’ ‘रोओ मत, रोओ मत,’ ‘ठिट्, ठिट्, रोते हैं !’ और कहते-कहते हठात् वह बुआके सामनेसे दूर चले गये

और साथ जानेवाली गठरी-पोटरी, बक्स-विस्तर गिनने और बतलाने और उठवानेमें लग गये। ऐसे कि बस बहुत ही काम है, हमें क्या फुर्सत रखी है।

मैंने प्रण किया था कि मैं नहीं रोऊँगा, नहीं रोऊँगा। मैं नहीं रोया, नहीं रोया। मुझे बेहद गुस्सा मालूम होता था कि मैं क्यों कुछ उत्पात नहीं किये डाल रहा हूँ। मेरे मनमें हो रहा था कि कोई मुझसे झगड़ता क्यों नहीं है। इससे उससे, किसी न किसीसे टक्कर लेनेको जी होता था। बुआ!—उँह, वह जायँ तो जायँ। मेरा उनसे कुछ मतलब नहीं है। मेरा... किसीसे कुछ मतलब नहीं है। मैं अकेला सब कुछसे निबट लूँगा। हाँ अकेला, अकेला। मुझसे मत बोलो, कोई मत बोलो। मैं नहीं याद करूँगा बुआको। वह क्यों चली जा रही हैं? मेरे रहते क्यों चली जा रही हैं? और यह फूफा कौन बला हैं कि ले जायँगे?—ले जायँ तो ले जाँय। जायँ, जायँ, अरे टलें तो।

एक अहेतुक त्रास मुझे दावे हुए था। वह न रोने देता था, न कुछ करने देता था। नतीजा यह हुआ कि मैं बुआकी विदाके समय देखते देखते एकाएक इतना झल्ला आया कि भागकर बुआवाली कोठरीमें अपनेको बंद करके खड़ा हो गया। किवाड़ बंद कर लेनेसे अँधेरा हो गया था, तिसपर भी दोनों हाथोंसे जोरसे आँखें ढँप ली थीं और गुम-सुम कोठरके बीचों बीच आकर बस खड़ा रह गया था। मानों आशा थी कि कोई करिश्मा होगा, भूचाल आयगा, कुछ न



कुछ होगा, और आखिरमें सब ठीक हो जायगा । वहाँ खड़े खड़े चाहता था कि साँस रोक लूँ, बेजान हो जाऊँ, एकदम रूँ ही नहीं—

कि इतनेमें इधरसे उधर झपटती हुई माँकी गद्गद कंठकी गुहार आई—प्रमोद ! प्रमोद !

मैं नहीं बोला । मैं नहीं बोलूँगा । प्रमोद कहाँ है ? प्रमोद नहीं है । मैं प्रमोदको नहीं जानता । नहीं जानता, मैं नहीं जानता कुछ ।—

“ ओरे प्रमोद ! ओ भैया प्रमोद ! ”

माँकी वाणी ऐसी थी कि मुझसे सहा नहीं गया । मैंने अपनी जगहसे ही चीखकर कहा—क्या है ? मैं नहीं सुनता ।—

“ कहाँ है रे तू ? तेरी बुआ बुला रही है ! ”

मैं कोठरीसे बाहर निकल आया । बोला न चाला, ड्योढ़ी-की ओर बंधे भावसे बढ़ता चला गया । बाहर आकर देखता हूँ कि सब तैयार हैं । फूफा कह रहे हैं—‘ जल्दी करो, जल्दी करो । ’ बुआ खड़ी हैं । मुँहपर धूँघट है । क्या मेरी ही राह देखती खड़ी हैं ? मैंने पास आकर कहा—बुआ, क्या है ?

वह झपटकर मेरे गलेसे लग गई और ऊँची आवाज़से रो उठी ।

फूफाने कहा—रेलका वक्त हो रहा है । चलो, चलो ।

मैं उन्हें अपने कंधेसे लगी-लगी ही मोटर तक ले गया ।

फूफाने बाबूजीको प्रणाम किया। वह मोटरमें बैठ गये। मोटरने घर-घर की। फूफाने समोद भावसे कहा—‘ प्रमोद साहब ! आदाब अर्ज है । ’ मैं मानों घूँट पीता हुआ खड़ा था ।

## ४

मैं अब साँस लूँगा । बहुत कह चुका । मेरा मन दर्दसे भरा हुआ है । यो तो यह कहानी आरंभ की है तो पूरी भी करनी ही होगी । जीना एक बार शुरू करके, मौत आकर छुट्टी न दे दे तबतक, जीना ही होता है । बीचमें छुट्टी कहाँ ? पर मैं ज़रा साँस लेना चाहता हूँ ।

बहुत कुछ जो इस दुनियामें हो रहा है वह वैसा ही क्यों होता है, अन्यथा क्यों नहीं होता—इसका क्या उत्तर है ? उत्तर हो अथवा न हो, पर जान पड़ता है भवितव्य ही होता है । नियतिका लेख बँधा है । एक भी अक्षर उसका यहाँसे वहाँ न हो सकेगा । वह बदलता नहीं, बदलेगा नहीं । पर विधिका वह अतर्क्य लेख किस विधाताने बनाया है, उसका उसमें क्या प्रयोजन है—यह भी कभी पूछकर जाननेकी इच्छा की जा सकती है, या नहीं ?

शायद नहीं । ज्ञानी जन कह गये हैं कि परम कल्याणमय ही इस सृष्टिमें अपनी परमात्मीलाका विस्तार कर रहा है । मैं मान लेता हूँ कि ऐसा ही है । न मानूँ तो जीऊँ कैसे ? पर रह-रहकर जी होता है कि पुकार कर कहूँ कि हे, परम कल्याणमय, तेरी कल्याणीय लीलाको मैं नहीं जानता हूँ ।

फिर भी रोने विलखनेकी आवाज तो चारों ओरसे मेरे कानोंमें भरी आ रही है। यह क्या है, ओ जगत्पिता ! तेरी लीलाके नीचे यह सब आर्तनाद क्या है ?

लीला तेरी है, जीते-मरते हम हैं ! क्यों जीते, क्यों मरते हैं ? हमारी चेष्टा, हमारे प्रयत्न क्या हैं ? क्यों हैं ? ... पूछे जाओ, उत्तर कोई नहीं मिलता ।

फिर भी उत्तर नीरव भापामें सदा मुखरित है । भीतर उत्तर है, बाहर भी सब कहीं वही वह लिखा है । जो जानता है, पढ़े । जो जैसा जानता है, वैसा ही पढ़े । वह उत्तर कभी नहीं चुकता है । अखिल सृष्टि स्वयंमें उत्तर ही तो है । अपने अश्नका वह आप ही उत्तर है ।

पर उसे छोड़ें । कहें वह, जो कहा जाता है । कहो कि जो है, कर्म-फल है । मैं अपनी व्यर्थ प्रतिष्ठाके दूहपर बैठा हूँ । वह कृत्रिम है, क्षणिक है । हृदय वहाँ कहाँ है ? यज्ञ वहाँ कहाँ है ? लेकिन वही सब कुछ मुझे ऊँचा उठाये हुए है । नामी वकील रहा, अब जज हूँ । लोगोंको जेल-फाँसी देता हूँ । समाजमें माननीय हूँ । इस सबके समाधानमें चलो यही कहो कि यह कर्मफल है ! लेकिन सच पूछो तो मेरा जी जानता है कि वह कैसे कर्मोंका फल है । कामयाब वकालत और इस जजीके इतने मोटे शरीरमें क्या राई जितनी भी आत्मा है ? मुझे इसमें बहुत संदेह है । मुझे मालूम होता है कि मैं अपनेको खो सका हूँ तभी सफल वकील और बड़ा

जज बन सका हूँ । और वह मृणाल बुआ—लेकिन उस कहानीको तो जब कहना होगा तभी कहूँगा ।

मेरा मन रह-रहकर त्राससे भर जाता है । समाजकी जिस मान्यतापर मैं ऊँचा उठा हुआ खड़ा हूँ, वह स्वयं किसके चलिदानपर खड़ी है, इस बातको जितना ही समझकर देखता हूँ उतना ही मन तिरस्कार और ग्लानिसे घिर जाता है । पर क्या करूँ ? सोचता हूँ, उस समाजकी नींवको कुदेनेसे क्या कुछ हाथ आयगा ? नींव ढाली ही होगी और ऐसे हाथ आनेवाला कुछ नहीं है । यह सोच लेता हूँ और रह जाता हूँ ।

पर क्यों मैं यह नहीं जानता कि यह सब अपनेको ठगना है । समाजके ऊपर चढ़ बैठकर मैं उसे दबा सकता हूँ, बदल नहीं सकता । उसके फलने फूलनेका तो एक ही उपाय है, वह यह कि मैं अपनेको समाजकी जड़ोंमें सींच दूँ । अज्ञात रहकर सच्चा बनूँ, झूठा बनकर नामवर होनेमें क्या रखा है ? ओः वैसी नामवरी निष्फल है, व्यर्थ है, निरीरेत है । आत्माको खोकर साम्राज्य पाया तो क्या पाया ? वह रत्नको गवाँकर धूलका ढेर पानेसे भी कमतर है ।

जीवनमें एक बात तो नहीं है, दसियों बातें हैं । वे जीमें ऐसी जगह बैठ गई हैं कि घुमड़ती रहती हैं । उनपर आँखें मीचूँ तो भी नहीं मिच सकतीं । वे मेरे भीतर अनुकूल वायुमें कभी कभी ऐसी सुलग जाती हैं कि उनकी लौके प्रकाशमें मैं देख उठता हूँ कि सचाई क्या है । तब मेरी जजी मुझे

शाप दीखती है और जान पड़ता है वही प्रवंचना है, वही प्रवंचना है। सचाई तो छोटा बननेमें है, निरीह बननेमें है, बलि बननेमें है। बहुत कुछ देखा है, बहुत कुछ पढ़ा है। लेकिन वह सब झूठ है। सच इतना ही है कि प्रेमके भारसे मारी रहकर जो जीवनके मूलमें पैठा है, वह धन्य है। जो गर्वमें फूला उस जीवनकी फुनगियोंपर चहक रहा है, वह भूला है।

लेकिन व्यर्थ बातें मैं क्या करूँ? इससे क्या फायदा है? ऐसे मनका दर्द हल्का तो होगा। पर हल्का होकर वह दर्द सब अधिक बन जाता हो, इस भाँति प्रेरक तो वह अवश्य ही कम हो जाता है।

पूछता हूँ, मानवके जीवनकी गति क्या अंधी है? वह अप्रतिरोध्य है, पर अंधी है यह तो मैं नहीं मानूँगा। मानव चलता जाता है और बूढ़-बूढ़ दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है। वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानवकी मानस-मणि है। उसीके प्रकाशमें मानवका गति-पथ उज्ज्वल होगा। नहीं तो चारों ओर गहन वन है, किसी ओर मार्ग सूझता नहीं है, और मानव अपनी झुधा-तृषा, राग-द्वेष, मान-मोहमें भटकता फिरता है। यहाँ जाता है, वहाँ जाता है। पर असलमें वह कहीं भी नहीं जाता; एक ही जगहपर अपने ही जुँपमें बंधा हुआ कोल्हूके बैलकी तरह चक्कर मारता रहता है।

इतनी उम्र बिताकर बहुतोंको मरते और बहुतोंको जीते

देखकर अगर मैं कुछ चाहता हूँ तो वह यह है कि भीतर-का दर्द मेरा इष्ट हो । धन न चाहूँ, मन चाहूँ । धन मैल है, मनका दर्द पीयूष है । सत्यका निवास और कहीं नहीं है । उस दर्दकी साभार स्वीकृतिमेसे ज्ञानकी और सत्यकी ज्योति प्रकट होगी । अन्यथा सब ज्ञान ढँकोसला है और सब सत्यकी पुकार अहंकार है ।

जो होता है उसके लिए दोष मैं किसे दूँ ? विधाताको तो दोष दे नहीं सकता, क्योंकि उनतक मैं किसी प्रकार अपना धन्यवाद भी नहीं पहुँचा सकता । दोष दूँ ही क्यों ? अगर मेरे मनमें दोष उठे बिना नहीं रहता, तो उसे मैं किसीको भी क्यों दूँ, स्वयं ही क्यों न ले लूँ ? मैं जान लूँ कि चाहे कुछ भी हो, हमारा दुख विधाताका ही दुख है । पर जो जगत्की कठोरताका बोझ इच्छापूर्वक अपने ऊपर उठाकर चुपचाप चले चलते हैं और फिर समय आनेपर इस धरती मातासे लगकर उसी भाँति चुपचाप सो जाते हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ । मैं उनको अभाग भी कह लूँगा, पापी भी कह लूँगा—लेकिन मैं उनको प्रणाम करता हूँ ।

बुआका जो अंत हुआ, उसपर मैं क्या सोचूँ ? मैं कुछ नहीं सोचना चाहता । शायद जो हुआ ठीक हुआ । ठीक इसलिए कि उसे अब किसी भी उपायसे बदला नहीं जा सकता । लेकिन इतना तो सोचा ही करता हूँ कि जो प्रेम उनसे मुझे प्राप्त हुआ था वह क्या किसी भी भाँति भूला जा सकता है और क्या वह स्वयंमें इतना पवित्र नहीं है कि स्वर्गके द्वार उसके समक्ष खुल जायें ?

लेकिन मैं नहीं जानता । स्वर्ग नरक मैं नहीं जानता । विधाताके विधानको मैं नहीं जानता । वस इतना जानता हूँ कि मैं हृदय-हीन न हो सका होता तो आज कामयाब वकील बननेके बाद जजीकी कुर्सीमें बैठना भी मेरे नसीबमें न होता ।

उस रोज़के बाद जब बुआ जमालगोटेके बावजूद फ़फ़ाके साथ चली गई थीं मुद्दततक उनसे मिलना न हुआ । नवीं क्लासमें आया, मैट्रिक पार कर लिया, कालिजमें दाखिल होकर आखिर आई० ए० भी कर चुका । नई परिस्थितियों मिलीं, नये दोस्त मिले, निगाह फैलती गई और ज़िन्दगीकी स्वाहिशें मुँह खोलकर सामने आईं । बुआकी याद धीमे-धीमे धीमी हो गई । पहले तो मैं मचल-मचलकर उनकी ख़बर माता-पितासे पूछता रहा । माझम इतना ही होता रहा कि अपने ठीक हैं, मौजसे हैं । मैं अपनेसे पूछता रह जाता था कि यह ठीकसे होना, मौजसे होना क्या चीज़ होती है ? क्या बुआ प्रसन्न हैं ? प्रसन्न हैं तो मैं इधर प्रसन्न क्यों नहीं हूँ ? ऐसा मनमें उठता था और बैठ जाता था । कुछ काल बाद पता लगा कि उन्होंने एक मृत कन्याको जन्म दिया है । उस जन्म देनेमें उनकी भी हालत मृतप्राय हो गई थी । पर 'जाको राखे साइयो' उसका मरना आसान नहीं है । सो परमात्माकी दयासे बच गई । दया कहते जी कुछ रुकता है, फिर भी अदया तो उसे नहीं कहा जाता ।

एक दिन ऐसा हुआ कि मैंने माँसे पूछा—माँ, बुआका कोई हाल आया है ? अबकी छुट्टियोंमें मैं उनके पास जाऊँगा । सुनकर माँ फटी आँखोंसे मुझे देखती रह गई; बोलीं नहीं ।

मैंने आग्रहपूर्वक कहा—वताओ, कोई बुआका हाल नहीं आया ?

मैंने कुछ अतिरिक्त लापर्वाहीके साथ कहा—नहीं ।

मैंने कहा—आया है ।

बोली—नहीं आया, नहीं आया । क्यों मेरी जान खाये डालता है ।

मैंने कहा—क्या बात है, बतलाती नहीं हो ?

बोली—बात ! कह तो दिया कि बात कुछ भी नहीं है । वह अच्छी होणी और क्या ! अपना पढ़ना-लिखना कुछ भी नहीं, जब देखो 'बुआ ! बुआ !' जा, तेरी बुआ मर गई !—हाँ-तो ! खबरदार जो अब बुआकी बात मुझसे की !

मैं सकतेमें रह गया । पूछा—क्या है ? क्या है ?

“ कुछ नहीं । चल जा अपना सबक देख । ”

मैं किसी भाँति माँसे कुछ न पा सका । वह कुछ कहती ही नहीं थीं । बाबूजीसे पूछा । वह भी जवाबमें चुप रह गये ।

मैंने कहा—बाबूजी, सच बताइए । बुआ मर गई हैं ?

बाबूजी आँख फाड़कर रह गये । बोले—किसने कहा ?

“ किसीने भी कहा । आप सच-सच बताइए—मर गई हैं ? ”

“ नहीं तो— ”

“ तो क्या बात है ? ”

“ बात—कुछ नहीं है । ”



मुदत बीत गई । पर मैं इस रहस्यको न खोल सका । अबसे बुआकी चर्चा घरमें निषिद्ध बन गई । उनका नाम आता तो सब चुप रह जाते । पिताजीकी प्रकृति ही बदल गई दाखती थी । वे कुछ भीरु गंभीर हो चले थे । माँ चिड़-चिड़ी होती जाती थीं ।

बहुत दिनों बाद जो बात मैंने जानी वह यह थी कि पतिने बुआको त्याग दिया । बुआ दुश्चरित्रा हैं और फूफाको मालूम है कि वह सदासे ऐसी हैं । ' छोड़ दिया है, ' इसका पूरा मतलब एकाएक समझमें नहीं आया । छोड़ कहाँ दिया है ? क्या वह खुद चली गई हैं या किसी अलग स्थानपर उनको रख दिया गया है, या उसी घरमें ही हैं और संबन्ध-विच्छेद हो गया है ? पता चला कि उसी शहरमें एक अलग छोटेसे घरमें रख दिया है । कोठरी है ही, उसमें जैसे चाहे रहें, जैसे चाहे खाएँ-पीएँ । कहाँसे रहें और कहाँसे खाएँ पीएँ ? कहींसे रहें और कहींसे खाएँ-पीएँ । यह भी ज्ञात हुआ कि फूफाने तो कहा था कि मैंके चली जाओ पर बुआ इसके लिए बिल्कुल राजी नहीं हुई । धमकाया गया, मारा पीटा गया, पर उन्हें मरना मंजूर हुआ हमारे यहाँ आना कबूल नहीं हुआ तब खुद फूफा जाकर उन्हें अलग घरमें छोड़ आये हैं ।

यह सब कुछ कहानी-सा मैंने सुन लिया । मेरी कल्पना आरंभमे तो उधर उत्साहके साथ बढ़ी; फिर शनैः शनैः उत्साह शांत हो गया और जीवन उस कहानीको स्वीकार कर सहज गतिसे चलने लगा ।

जिन्दगी है, चलती जाती है । कौन किसके लिए थमता है ? मरते हुए मर जाते हैं, लेकिन जिनको जीना है वे तो मुर्दाको लेकर वक्तसे पहिले मर नहीं सकते । गिरतेके साथ कोई गिरता है ? यह तो चक्कर है । गिरता गिरे, उसे उठानेकी सोचनेमें तुम लगे कि पिछड़े । इससे चले चलो । पर इस चलाचलीके चक्करमें अकस्मात् मुझे और भी पता लगा । वह यह कि अब बुआ उस जगह नहीं हैं, वहाँसे (अमुक) नगर चली आई है । कोइलेकी दुकान करनेवाला एक बनिया साथ है । वह (अमुक) नगर जहाँ हम रहते थे, उससे दूर नहीं था । बुआ उसीके एक कोनेमें आ टिकी होंगी, यह बात एकदम बहुत आश्चर्यजनक और असंभव-सी लगी ।

इसके थोड़े दिनों बाद पिताजीका देहांत हो गया । अब हम जरा संकुचित भावसे रहने लगे । क्योंकि माँ बहुत सोच-विचारवाली थीं । झूठी शानसे बचती थीं और मेरे बारेमें ऊँची आशाएँ रखती थीं । इस बीच मैं एफ० ए० कर चुका ही था, थर्ड ईयरमें पढ़ता था । यूनिवर्सिटी जा रहा था कि उस नगरके स्टेशनका बोर्ड देखकर एकाएक मनमें संकल्प-सा उठने लगा । सोचा कि अभी तो नहीं, पर लौटते हुए, अकेलेमें जरूर यहाँ उतरना होगा । मैं बुआको ढूँढ़ निकालूँगा और कहूँगा—बुआ तुम ! यह तुम्हारा क्या हाल है ? चलो, यहाँसे चलो ।

यूनिवर्सिटीसे छुट्टी होते ही घर पहुँचनेके लिए माँने लिख भेजा था । बात यह कि मेरे व्याहकी बातचीतके सूतको

उठाकर इस बार माँ उसमें पक्की गाँठ दे देना चाहती थीं । लेकिन लौटते हुए रास्तेके उस स्टेशनपर उतरे बिना मुझसे नहीं रहा गया और मैंने बुआको खोज निकाला ।

५

शहर के उस मुहल्लेमें जाते हुए मन मेरा दवा आता था । कहाँ बुआ, कहाँ इस जगहकी गंदगी ! वहाँ नाँचें ठेके लोग रहते थे । भीतर गलीमें गहरे जाकर बुआकी कोठरी थी । बनिया बाहर एक दुकान लेकर वहाँ दिनमें कोइलेका व्यवसाय करता था । मैं कोठरीके द्वारपर पहले तो ठिठका, फिर हिम्मत बाँध, दरवाजा ठेलता हुआ अंदर चला गया ।

वह बुआ ही थीं । क्या वही हैं ? लेकिन वही थीं । एक धोतीमें बैठी अँगीठीपर कोइलेकी आँचमें रोटी सेंक रही थीं ।

किसीको आते देख उन्होंने झट आँचल थोड़ा माथेके आगे खींच लिया था । लेकिन जब मुझे देखा, तो देखती रह गईं । क्या पहचाना नहीं ? या पहचान लिया है ? मैं उस निगाहके सामने स्तब्ध होकर रह गया । उस समय मैं अपनेको बहुत-बहुत धिक्कारने लगा कि यहाँ क्यों आया, क्यों आया । कुछ ऐसा भाव उस दृष्टिमें था ।

कुछ देर बाद चुपचाप उन्होंने मुझपरसे आँख हटाकर अपने सामनेकी अँगीठीपर ही जमा ली और रोटी बनानेमें लग गईं ।

थीं बुआ ही, लेकिन उनका यह क्या रूप था ? देह

दुबली थी, मुख पीला था । गर्भवती थीं । एक धोतीमें अपनी सब देह ढाँके बैठी थी । मुँहपर क्या लाजकी छाया आ छाई थी । कोठरी बारह फीट वर्गसे बड़ी न होगी । बाहर थोड़ी खुली जगह थी जहाँ धोती अँगोछे सूख रहे थे । कमरेमें एक और कपड़े चिने थे । उनके पास ही दो-एक बक्स थे । उनके ऊपर बाँस टाँगकर कुछ कामके कपड़े लटका दिये गये थे । बुआकी पीठकी तरफ़ दो-एक टीनके आधे कनस्तर, दो-चार हँडियाँ, और कुछ मिट्टीके सकोरे और टीनके डब्बे थे । वहाँ पास कुछ पीतल एल्यूमीनियमके वर्तन रक्खे थे और एक टीनकी वाल्टी और पानीका घड़ा भरा रक्खा था । एक कोनेमें कोइलेकी बोरी आधी झुकी हुई खड़ी थी ।—

मैं यह सब देखता रह गया । बुआ कुछ भी नहीं बोलीं । वह एकटक सामने अँगीठीमें देखती हुई रोटी बनानेमें लगी रहीं ।

मैंने कहा—मैं प्रमोद हूँ, बुआ ।

वह नहीं बोलीं ।

मैं भी चुप होरहा । फिर बोला—मैं जाऊँ ?

अब भी उन्होंने न आँख उठाकर मुझे देखा, न कुछ कहा ।

लेकिन मुझसे जाया नहीं गया । पैर मानों जम गये हों ।

मैंने हठात् हल्के भावसे कहा—लो, नहीं जाता । पर कुछ बैठनेको दो तो मैं बैठूँ, बुआ ।

मैंने सोचा था कि अब तो बुआ बोलेंगीं, लेकिन वह नहीं बोलीं । इतनेमें ही बाहरसे किसीके पैरोंकी आहट आई और